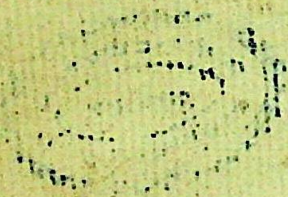

पुस्तकालय,



श्री १०८ ब्रह्मानंद सरस्वती स्वामी

१
२०६
१३८

शुकाष्टक सटीक ॥ ६७

रामचन्द्र सरस्वती स्वामी की टीका
अनुसार लाला मानिक चन्द ने
बाबा वीर सिंह वो स्वामी आ
नन्द गिरि की सहायता से
देभाष भा[illegible]
[illegible]

जिसे उज्ज्वलता से, मुनसी हरबंस
लाल के, आज्ञानुसार बनारस
लाइट छापेखाने में गोपीनाथ
पाठक ने मुद्रित किया ॥

सम्वत १९३१ ॥



॥ श्रीआत्म[illegible]॥

———•000•———

श्री गङ्गाधर सरस्वती स्वामी के शिष्य श्री रामचन्द्र सरस्वती स्वामी आत्मा को जो आनन्द का सिन्धु और अज अक्षर अद्वितीय है और शिव रूपी गुरु को नमस्कार करके मुक्ताष्टक जो समस्त जनके निवृत्ति का कारण और कमल के सम्पुट के खोलने के निमित्त भानु रूपी है उसके बनाने का कारण वर्णन करते हैं कि जैसे किसी को अनेक जन्म के संचित कर्मों से विवेक और वैराग्य की उत्पत्ति हो गई हो और मुमुक्षु पुरुष शमदम आदि साधन करके सम्पन्न होकर मोक्ष के साधन में इस श्रुति के (तरति शोक मात्मवित्) अनुसार आत्म तत्वज्ञान से अभिलाष पूर्वक प्राप्त हुआ हो और श्रवण मननानि दिध्यासन करके सम्पन्न हो परन्तु किसी प्रतिबन्ध से उस

को मोक्ष प्राप्त नहुआ हो और शरीर त्याग हो जावे तो वह फिर ऐसे कुल में आकर प्राप्त होता है जो ज्ञान और विज्ञान और योगैश्वर्य करके सम्पन्न हो इसी प्रकार से श्री शुकदेव जी महेश्वर वर प्रदान से व्यास के पुत्र होकर औतार लिये थे और व्यास वो जनक के किञ्चित २ उपदेश और स्व-अनुभव से करतल आमलक की नांई आत्म तत्व को प्राप्त होकर सन्तुष्ट हो गये तो उनको शास्त्रोक्त विधि निषेध कर्मों के करने को कुछ इच्छा न रही हंसवत विचरने लगे तब व्यास उनके, पिता वर्णाश्रमी धर्म के करने का उपदेश देने लगे परन्तु शुकदेव कुछ भी उसपर ध्यान नहीं लगाते थे और न सुन्ते थे तब हार कर व्यास ने उन ऋषियों के लड़कों से जो सुहृदय और शुकदेव के साथी थे कहा कि तुम लोग शुकदेव को इस प्रकार से समझाओ कि शास्त्रोक्त वर्णाश्रमी धर्म के करने पर तत्पर हो निदान जब शुकदेव को ऋषियों के लड़कों ने श्रुति और युक्ति के द्वारा बहुत समझा

या तो शुकदेव जी शुद्ध चैतन्य आत्मा रूप इन कर्मों के बन्धन से रहित थे ऋषियों के लड़कों के उत्तर देने को तत्पर हुए और अपनी निश्चयात्मक बुद्धि को जो बेद और स्मृति के अनुसार दृढ़ तरथी प्रगट करने लगे और कहने लगे कि हम विधी निषेध कर्मों के बन्धन से मुक्त हो कर इस संसार में विचरते हैं तो कर्मों का करना हम को क्या उचित है ॥

श्लोक ॥

भेदाभेदौसपदिगलितौ पुण्यपापेविशीर्णौ मायामोहौ क्षयमधिगतौनष्टसंदेहवृत्तेः। शब्दातीतंत्रिगुणरहितंप्राप्य तत्वावबोधंनिस्त्रैगुण्येपथिविचरतःकोविधिःकोनिषेधः १ ॥



अर्थ ॥

भेद और अभेद यह दोनो पद सहित गल गये और पुन्य औ पाप का भी नाश हो गया और माया वो मोह भी क्षय को प्राप्त हो गये और सन्देह वृत्ति का भी नाश हो गया और वह पुरूष भी शब्दातीत अर्थात अनिर्वचनीय और त्रिगुण अर्थात सत रजतम इन तीनो गुनों से रहित है प्राप्त हो गया तो अब हम ऐसे निर्खे गुन्य पथ के चलने वाले हैं, तो हमको क्या विधो और क्या निषेध है अर्थात नित्यानित्य वस्तुओं के विचार से हमको क्या काम है ॥

टीका ॥

अज्ञान्ता के कारण शरीरों में भिन्न २ प्रकार का धर्म देखकर आत्मा में भेद बुद्धि करके जो लोग कहते हैं कि इस शरीर में आत्मा दूसरा और उस शरीर में आत्मा दूसरो अर्थात प्रत्येक शरीरों में, आत्मा भिन्न २ है इसी प्रकार की बुद्धि को भेद क

हते हैं और आत्मा को सम्पूर्ण वस्तुओं में परिपूर्ण और साक्षीरूप और सबसे अतीत जो बुद्धि है उसी को अभेद कहते हैं और भेदाभेद यह दोनो रागद्वेष के उत्पन्न होने के कारण और अज्ञानात्मक लक्षण हैं इन दोनो का नाश केवल आत्माही के समझने से होता है और जब तक द्वैत बुद्धि है तब तक रागद्वेष अर्थात मित्रों और प्रिय वस्तुओं को इच्छा और चाह रखता है, और शत्रुओं वो अप्रिय वस्तुओं से गलानी रखता है और काम क्रोध लोभ मोह इत्यादि में फंसा रहता है निदान श्रुति का वचन भी है कि (यावद्विभेददर्शनंतावद्वेष भयादिनिरागद्वेषादयः) जब तक भेद बुद्धि रहती है तब तक भय पूर्वक देवता के अंग रत रहता है और यही रागद्वेष का कारण है और (द्वितीयाद्वैभयंभवतिम्रत्योः सम्रत्यु माप्नोतियदिहनानेवपश्यति । दूसरे द्वैत बुद्धि से मृत्यु का भय होता है और बारं बार मरक उत्पन्न होता रहता है, (यथोदकंदुर्गेवृष्टंपर्वतेषुविधावतीएवं..)

न्पृथक्पश्यंस्तानेवानुविधावति और जि
स प्रकार से कि जल बड़े २ पहाड़ों पर
दृष्ट करके चारो ओर को धावते हैं उसी
प्रकार से सम्पूर्ण धर्म पृथक २ कर्मों की
ओर धावते रहते हैं (यथोन्यादेवतामुपा
स्तेऽन्योसावन्योहमस्मीतिनसवेदयथापशु)
और जो आत्मा के सिवाय दूसरे देवता
की उपासना करता है और सबको भिन्न २
जानता है आत्मा नहीं जानता वह पशु के
समान है (एवंसदेवानांसर्वेनैवरेमेयहिती
यमैच्छत्सो ऽकामयतजायामेस्यादथप्रजाये-
याथौवित्तंमेस्यादथकर्मकुर्वीयेत्येतावन्वैका
म) और उसी आत्मा ने जब अपने में यह
इच्छा किया कि हम जायमान होवें तब
उत्पन्न हुआ और अर्थ धर्म काम इत्यादि
उसमें लगा तब वह कर्म करने लगा ॥
यह सब श्रुति के वचन हैं आगेस्मृति के
वचन दिखलाते हैं कि (एवदेहाद्यभिन्ना
त्मदर्शनमन्यनर्थहेतुः) देहों में आत्मा का
भिन्न २ देखना यह अनर्थका हेतु है और
(अयंलोकोनास्तिपरइतिमानिपुनः पुनर्व

भमात्यते मे इत्यादिस्मृत्युवचनात् । इस लोक के सिवाय और कुछ नहीं है अर्थात यह कि स्वर्ग नर्क इत्यादि दूसरा और कहीं नहीं है इस प्रकार के बुद्धि मान को श्रुत्य, कहती है कि वह बारं बार मेरे वश्य में पड़ता रहता है अर्थात् मरता रहता है और (प्रायश्चिताद्भवेच्छुद्धिर्ब्रह्मणांगोवधका रिणांदेहाभिमानिनापुंसांप्रायश्चितनविद्य त) गौवध कारी को शुद्धी प्राश्चित के करने से होती है किन्तु देहाभिमानी पुरुष की शुद्धी के हेतु कोई प्राश्चित नहीं है निदान इस सब श्रुति और स्मृति के बचनों से यह दृढ़ करके निश्चय होता है कि भेदा भट्ठी सम्पूर्ण वस्तुओं का कारण है जब इन दोनो का नाश हो गया तो शुभ और अशुभ कर्म का फल जो पाप और पुन्य है सो भी जाता रहा इससे अधिक एक बचन और भी श्रुति का है कि (तद्यथैषीकातूलमग्नौप्रोतंप्रदूयेतेत्यादिश्रुतेश्च जिस प्रकार धूवे की ढेर में अग्नि पड़तेही सब को भस्म कर देती है उसी प्रकार आत्मज्ञान

उत्पन्न होते ही माया मोह संपूर्ण कर्म स
हित नाश हो जाता है, श्री शुकदेव जी
यहां तक श्रुति और स्मृति के अनुसार अ
पनी निश्चयात्मक को प्रगट करके अब अपनी
बुद्धि के अनुसार और भी दिखलाते हैं कि
पुण्य और पाप यह दोनो जो माया और
मोह से उत्पन्न हुये थे सो जब माया और
मोह आत्मज्ञान होने से क्षय हो गया तो
पाप वो पुन्य कहां रहे अर्थात इनका भी
नाश हो गया ॥

मोह नाम अविद्या अर्थात अज्ञान का
का है और अद्वितीय पूर्ण सच्चिदानन्द ब्र
ह्मात्म स्वरूप जो तिरोधायं का है जब आ
वरण शक्ति प्रधाना होता है तब अविद्या
कहलाती है अर्थात सत्यवस्तु को असत्य
भास करता है और वही ब्रह्म जब विक्षेप
शक्ति प्रधान होता है तब वह माया कह
लाता है ॥

प्रश्न-इससे यह जाना जाता है कि अविद्या
और माया जो आवर्ण शक्ति और विक्षेप श
क्ति के कारण उत्पन्न हुई है सो दो वस्तु है ॥

उत्तर—अद्वितीय ब्रह्म को एक प्रकृती होती है जब वह प्रकृति तमोगुण प्रधाना होती है तब अविद्या और मोह कहलाती है और जब वह रजोगुण प्रधान होती है तब माया कहलाती है और जब उसमें सतो गुण का प्रवेश होता है तब सम दम आदि साधन करके अपने स्वरूप को चीन्हता है और जब उसने अपने स्वरूप को जाना तो यह प्रकृति जो तीनो गुनों के उत्पन्न होने को कारण थी इन तीना गुनो और माया मोह इत्यादि सहित नाश को प्राप्त हो जाती हैं ॥

शब्द दो प्रकार के होते हैं एक लौकिक दूसरो वैदिक और शब्दों के कारण पांच है जाति वाचक वो गुण वाचक वो क्रिया वाचक वो संज्ञाभूत और सम्बन्ध सो इन गुणों से भी रहित है अर्थात यह कि न उसमें कोई जाति है, और न कोई गुण वो क्रिया इत्यादि हैं उसी को शब्दा तीत और अनिर्वचनीय कहते हैं ॥

गुण तीन प्रकार के हैं सत वो रज वो

तम इन तीनों गुणों का कारण माया है
और कार्य इसका जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति देह
इन्द्रिय प्राण मन बुद्धि है और आत्मा इन
सभों से अलग इन सभों का साक्षी भुत
और द्रष्टा है तो वह यह सब वस्तु कैसे हो
सक्ता है क्योंकि देखने वाला वस्तु से अल
ग, रहता, है, कुछ, वहीवस्तु नहीं, हो,
सक्ता ॥

प्राप्त करना दो प्रकार का होता है एक
क्षया प्राप्त अर्थात संसारी वस्तुओं के नि
मित्त क्षया करना दूसरा ज्ञान प्राप्त अर्थात
अपने आपके जान्ने को क्षया करना तत्व
उसको कहते हैं जो सबसे अतीत और त
द्रूप हो जैसे किसी को रज्जु में सर्प का भ्रम
हो और फिर जाना जाय कि सर्प नहीं
है रज्जु है रज्जु का जानना यही तत्व ज्ञान
कहलाता है और बोध हो जाना अच्छी
भांति से जान जाने को कहते हैं जैसे किसी
को अपने कंठ के हार के खो जाने का भ्रम
हो परंतु जब कोई उसको बतादेवे कि
खोया नहीं है देख तेरे कंठ में है इस क

हने पर जो उसने देखा तो उसको अपने कण्ठ में होने को बोध हो गया इसी प्रकार के बोध होने को बोध कहते हैं ॥

सन्देह का कारण जो अज्ञान है उसका जब नाश हुआ, अर्थात ज्ञान की उत्पत्ति हुई तो संपूर्ण सन्देह की वृत्ति नष्ट हो जाती है और द्वैत बुद्धि से योग्य और अयोग्य कर्मों का सन्देह जो था और उस का साधन जो पुन्य और पाप है सो और उसका फल जो सुख और दुख है सो सब नष्ट हो जाता है ॥

निसै गुन्य पथ वह है जिसमें तामस विषई अर्थात इन्द्रियों के वश में जो हैं और राजसी कर्म वाले अर्थात पुन्यपाप के कर्ता और सात्विक उपासक अर्थात विचार वाले पुरुष को भी गम्य नहीं है वह सातवीं योग भूमिका में तुरिया नामक है जिस अवस्था में प्राप्त हो पुरुष निर्विकल्प समाधि में स्थित रहता है ॥

अब श्री शुकदेव जी कहते हैं कि हम जो इस चौथी अवस्था के विचरनेवाले हैं

सो हमको क्या विधी है, कि उस पथ से मन को फेर के इस गृहस्था श्रमी कर्म में लगावें और क्या निषेध है कि उसके करने से मन को रोकें यह विधी और निषेध तुम ऐसे लोगों को चाहिये कि जो इस त्रैगुण्य रचित शरीर में अहं भाव करके विश्वर रहे हो और पुन्यका फल स्वर्ग के, हेतु चाहते हो और पाप के फल से जो नर्क के है। हैं भय रखते हो अर्थात दोनों में भेद दृष्टी हो और आत्मा को करता और भोगता मानते हो और पूर्ण सच्चिदानन्द अद्वैत ब्रह्मात्मा को अपने से अलग जान कर उसकी स्तुति इत्यादि के हेतु इस शरीर को जान्ते हो ॥

इतना बचन सुन कर ऋषियों के लड़के बोले कि हे शुकदेव तुम जो कहते हो कि हमें भेद और अभेद यह दोनों नहीं हैं और हमको कोई विधी और कुछ निषेध भी नहीं है तो यह तुम कैसे कहते हो। क्योंकि आत्मतत्वज्ञान में विधी निषेध का देखना साध्य और साधन कर्मों में प्रवृत्ति

और निवृत्ति का हेतु है सो यह सब विधी और निषेध नही करना चाहिये और भेद वो अभेद का बोध हो जाने से भी दुख की निवृत्ति कैसे हो सक्ती है और तत्वज्ञान से सत्यत्वा का समर्थ कैसे होसक्ता है और केवल बोध मात्र के होने से भिन्य में भिनत्व नही उत्पन्न होता क्योंकि शरीर में सुख दुख जो व्यवहार पूर्वक होता है सो शास्त्रोक्त सत्यता भाव से एक के सुख दुख से सब में सुख दुख नहीं होता और गौतमोक्त स्मृति भी है कि (नानात्मनोव्यवस्थात् । आत्मा अलग २ व्य स्थित है और शास्त्र में लिखा है कि पराये का धन नहीं लेना और पराई स्त्री के संग गमन नहीं करना और वृद्धों का सेवा करना निदान जब श्रुति स्मृति और लौकिक शास्त्रोक्त में इस प्रकार का लेख है तो नाना आत्मा के होने में, क्या सन्देह है यह सुन कर शुकदेव जी बोले ॥



श्लोक ॥

यद्वात्मानंसकलवपुषामे-
कमंतर्वहिस्थंदृष्ट्वापूर्णं खमिव
सततंसर्वभांडस्थमेकं नान्य-
त्कार्यंकिमपिचततः । का-
रणाद्भिन्नरूपंनिस्त्रै गुण्येप-
थिविचरतः कोबिधीः कोनि
षेधः ॥ २ ॥

अर्थ ॥

जैसे आकाश सम्पूर्ण भांड अर्थात् पाचों में एकही देख पड़ता है उसी प्रकार आत्मा सम्पूर्ण शरीर के भीतर और बाहर सब जगह पूर्ण है और कारण कार्य से भिन्न नही है निदान जब हम इस प्रकार के, निस्त्रै गुन्य पथ में विचरते हैं तो हम को क्या विधी और क्या निषेध है ॥

टीका॥

यह पद इस श्लोक में पूर्व प्रश्न का उत्त
र देने को आया है कि संपूर्ण शरीर जो
अराडज वो स्वेदज वो स्थावर वो जल वो
अग्नि वो वायू से उत्पन्न हुये हैं और मा
नसो सृष्ट में सनकादि और नारदादि का
शरीर है सो सब में एकही आत्मा है इस
वास्ते सत्यत्वता भाव से आत्मा में भेद नहीं
है क्योंकि देखो जैसे शुक्ति अर्थात् सीप में
जो रूपे का भ्रम होता है और पश्चात भ्रम
नाश होने पर सत्वता भाव से सीप का,
बोध हो जाता है और रूपा का बोध जो
था सो असत्य हो जाता है और रज्जु में
जो सर्प का भ्रम हो जाता है सो भी भ्रम
के छुटने पर रज्जु की रज्जु जान पड़ने ल
गती है इसी प्रकार से संपूर्ण भ्रम असत्य
है और तुमारा जो यह प्रश्न है कि आत्मा
प्रत्येक शरीर और इन्द्रियों के साथ भिन्न
२ है सो यदि हमने इस भेद का प्रमाण
स्वराज्य नामक पुस्तक में भली भांति से

लिखा है परन्तु तुमारे बोध के हेतु संक्षेप में वर्णन करते हैं, कि शरीर में नानत्व भाव करके बाल्य वृद्धादि अवस्था और अंध वो बधिर्यादि नाना प्रकार का व्यभिचार इन्द्रियों में बोध होता है सो यह नानत्व भाव आत्मा में नही है क्योंकि वह प्रत्येक अवस्था में एक रस रहता है शरीर वो इन्द्रियों की नाईं बाल वृद्ध और लूला लंगड़ा वो अन्धा बहिरादि को नहीं प्राप्त होता यदि आत्मा में भी यह सब धर्म होता तो शरीर के साथ आत्मा का भी नाशादि हो सक्ता परन्तु आत्मा का नाश होना अथवा अन्धा बहिरादि होना कदापि हो नहीं सक्ता तो यह दृढ़ हुआ कि आत्मा और शरीर में भेद है अभेद कदापि नहो हो सक्ता ॥

प्रश्न—तुम कहते हो कि आत्मा संपूर्ण शरीर में एकही है सो यह कैसे हो सक्ता है क्योंकि वेद में लिखा है कि आत्मासूक्ष्म और सूक्ष्मतर और अणुरात्म है अर्थात बाल के अग्रभाग का १ टुकड़ा किया जा

यतो उस एक टुकड़े के ऽवें भाग के समान यह जीवात्मा है और वह अति सूक्ष्म है कि बुद्धि को भी गम्य उसमें नहीं है और अणुरात्म स्वप्न अवस्था में सूक्ष्म २ नाड़ियों में प्रवेश करके चरित्र करता है अणुरात्मा उसके समान है कि सूर्य की द्वारा किर्णें जो किसी गृह में छेद्र के राह से आती है उस में जो कणें उड़ते रहते हैं उस एक कणां के छटवें भाग के समान हो कर नाड़ियों में प्रवेश करता है निदान यह सिद्ध हुआ कि आत्मा अति सूक्ष्म है और यदि वह हस्ती मशक इत्यादि के शरीर में प्रवेश करके सर्व व्यापक हुआ परंतु जो वस्तु ऐसी सूक्ष्म है और ऐसी सूक्ष्म नाड़ियों में प्रवेश करती है तो सब में और सब जगह एकसा और एकही आत्मा नहीं हो सक्ता है इस लिये इन सब बचनों से भी यह दृढ़ हुआ कि आत्मा सबमें एक नहीं है ॥

उत्तर—वशिष्ठ शब्द का अर्थ इस ग्रंथ के उत्तर के निमित्त लिख जाते हैं कि आत्मा अन्तर और बाहर सब जगह है देखो श्रुति



कहती है कि (नित्यंविभुंसर्वगतंसूक्ष्मं) आत्मा नित्य और सर्व व्यापक और सूक्ष्म है और (आत्मापरिष्टाद्ब्रह्मैवेदममृतंपुरस्ताद्ब्रह्मपश्चाद्ब्रह्मदक्षिणात ओत्तरेणइत्यादि) वह कहता है कि ब्रह्म ऊपर वो नीचे और आगे वा पीछे और उत्तर वो दक्षिण आदि सर्वत्र और सब जगहों में पूर्ण है, आगे स्मृति का जो वचन है कि (सर्वत्रगमचिंत्यंचकूटस्थमचलंध्रुवं) आत्मा, सर्वगामी और चिन्तना रहित और कूटस्थ वो अचल और ध्रुव समान है अब इन श्रुति और स्मृतियों से निश्चय हुआ कि आत्मा परिछिन्न नहीं एकही है और तुम जो यह कहते हो कि बाल के अग्र भाग के सवं टुकड़े के सवें भाग के समान आकाशवत् व्यापक है सो यह सत्य है परंतु आत्मा किसी वस्तु में समाया हुआ नहीं है ब्रह्म बाहर और भीतर सब जगह पूर्ण है, और श्रुति का यह आशय है कि आत्मा में नामत्व और हैता नहीं है यह धर्म केवल इसके गुण और कार्य में है और श्रुति में

भी जिस स्थान में अणुरात्माका प्रमाण दिया है उसी स्थान में अनाणुरात्माभी लिखा है और, जिस स्थान में आत्मा को सूक्ष्म कहा है उसी में यह भी लिखा है कि (अवकाशेत्यादि) वह महाकाश से भी बड़ा है निदान यह निश्चय होता है कि आत्मा में वास्तविक भेद नहीं है, और व्यास के स्मृति से भी यही बात निश्चय होती है कि आत्मा का भेद केवल उपाधि से है जैसे आकाश की छोटाई बड़ाई घट मठादि के छोटाई बड़ाई के साथ कही जाती है यही दृष्टांत तुमारे उस संका का भी उत्तर है जो तुमने किया था कि एक के दुख सुख के होने से दूसरे को क्यों नही होता अत एव तुम अच्छी तरह से समझो और विचार करके देखो कि सम्पूर्ण पात्रों में एकही आकाश है परन्तु एक पात्र के टूटने से संपूर्ण पात्र नही टूट सके और इस दूसरे दृष्टांत से, भी सोचो और देखो कि. एक स्थान में दस बीस घड़ा जलमें भरा रक्खा है उसमे से एक घड़े का जल किसी

कारण से गदला हो जाय तो क्या तुम क होगे कि सब घड़ों में एकही जल होने के कारण संपूर्ण घड़ों के जल को गदला होना चाहिये निदान शास्त्रों में जो आत्मा का भेद कथन हुआ है सो केवल व्योहारार्थ है और तुमारी जो यह समझ है कि आत्मा शरीरों में भिन्न २ है सो यह समझ तुमारी अज्ञानता की कारण है॥

प्रश्न—अब तुमारे कहने से यह प्रगट होता है कि तुम वास्तविक भेद को नहीं मानते हो केवल उपाधिक भेद को मान्ते हो सो जब तुमने उपाधिक भेद को माना तो इस्से यह ज्ञात होता है कि तुमारे दृष्टि में भी भेद है और जब किसी प्रकार से तुम भेद जान्ते हो तो तुम को भी उस श्रुति की आज्ञा मान्ना चाहिये जो तुमने कहा है कि जो लोग भेदा भेद रखते हैं उनको विधी और निषेध है निदान तुम भी विधी और निषेध को कि जो श्रुति के आज्ञानुसार है मानो॥

उत्तर—उपाधि को भिन्न दृष्टी से ज्ञानी

लोग देखते हैं अज्ञानी लोग उस दृष्टी से नही देखते क्योंकि अज्ञानी लोग उपाधि के गुण को देखते हैं और उपाधि ही को सत्यात्मक करके जान्ते हैं असत बोध कदापि नही होता और यह भी नही जान्ते कि उपाधि झुठी हुई, वस्तु की नाई केवल देखने के योग्य है. किसी कार्य के, योग्य नहीं है जैसे किसी चाण्डालका स्पष्ट स्पर्श यदि स्वप्न वस्था में हो जावे तो उसका कुछ दोष नही मान्ते और यदि जाग्रद वस्था मे स्पर्श हो जावे तो स्नान दान करना उचित जान्ते हैं सो यह बुद्धि केवल अज्ञान्ता के कारण से है निदान यदि हम भी अज्ञानियों की नाई उपाधि और आत्मा को भिन्न २ दृष्टी से देखते तो अवश्य विधि निषेध मान्ने के पात्र होते और अब हम यह जान्ते हैं कि यह तीनों अवस्था और इन अवस्थावों की रचना और उपाधि सब आत्मा रूप हैं आत्मा से भिन्न कुछ भी नही है क्यो कि वेद का वचन है कि (आदेशोनेतिनेति) जो कुछ देखने में



आता है सो कुछ भी नहीं है क्योंकि यह सब भी यदि कुछ होता तो इनका नाश न होता और यह संपूर्ण सृष्टि केवल नाम मात्र है रूप कुछ नहीं रखती और इस प्रकार की बहुत सी श्रुतियां हैं जिसका अर्थ यह है कि कारण से भिन्न जब कार्य को देखोगे तो मिथ्या ठहरेगा जैसे रज्जु और सर्प का भ्रम था परन्तु जब रज्जु के होने का निश्चय हो गया तो सर्प का भ्रम जो था वह मिथ्या ठहरा और जिस प्रकार का तात्पर्य और रहस्य तत्व मसीवाक्य की घटती है उसी प्रकार की व्यवस्था जीव को भी दिखाते हैं कि जब यह खाना पीना इत्यादि से अतीत हो जाता है तो ब्राह्मण क्षत्रि आदि भेद से रहित हो कर आनन्द रूप एक रस ब्रह्म के सत्ता मात्र होकर कर्माधिकारी नहीं रहता है ॥

श्लोक ॥

द्वैधः कार्यं हुतवह्नगतं द्वैभ

मेवेतियद्वतच्चीरेचीरं सम
रसतयातोयमेवांबुमध्येएवं-
सर्वंसमरसतयात्वंपदंतत्प
दार्थेनिस्त्रैगुण्येपथिविचरत:
कोविधि:कोनिषेध: ॥ ३ ॥

अर्थ ॥

जैसे सुवर्ण के कार्य को अग्नि में गलाने से वह सुवर्ण ही कहा जाता है और दुग्ध में दुग्ध मिलावें और नदी आदि के जल में अपर जल मिलावें तो दुग्ध और जलही कहलाता है उसी प्रकार से संपूर्ण जगत को त्वं पद की माईं तत्व पदार्थ में मिलाय दिया तो तत्व हो हो जायगा इस प्रकार के निस्त्रैगुन्य, पथ में विचरने वाले को, क्या विधी और क्या निषेध है ॥

टीका ॥

जैसे कङ्कण और कुण्डलादि भूषन अग्नि

में गलाने से एक रस सोना चांदी हो जाते हैं उनका नाम रूप जाता रहा तो उनका कार्य जो हाथ कानादि में धारण करने का है सो कब रह सक्ता है केवल सत पदार्थ कि जिस्से वह बना था शेष रह जाता है और गऊ के दुग्ध में महिषी आदि का दुग्ध मिलादेवें तो वह केवल दुग्धही के नाम से पुकारा जावेगा भिन्यता भाव उसमें नहीं रहता और भिन्न २ स्थानों का जल एक में मिलाया जाय तो वह एक रस जलही कह लावेगा व्यासने अपने सूत्र में भी कहा है कि । यह जगत ब्रह्म से अलग नहीं केवल वाचार्थ भूत है जैसे भूषनों को गलाने से जो तत्व पदार्थ सुवर्णादि है सो प्राप्त हुआ उसी प्रकार से इस जगत को मिथ्या समझने से सत्यामात्र वत् आत्मा, शेष रह जाता है । इसी प्रकार से जीव के आदि स्वरूप का विचार और, निरूपण किया जाय तो वह स्वरूप जो जाति भेदादि से रहित ब्रह्मानन्द रूप है सो जाना जाता है और जब वह स्वरूप जाना गया

तो जीव ब्रह्म हो जाता है और उस सत्ता मात्र स्वरूप में जब जीव की एकता हुई. और इन्द्रि आदि के कर्मों और जाति भेदादि से रहित हो कर सतचित आनन्द रूप हो गया तो उसको किसी कर्म और विधी निषेध की अवश्यक्ता नही रहती ॥

अब आगे तत्व पद के अर्थ से भी इस की दृढ़ता करो ततपद का दो अर्थ होता है एक वाच्यार्थ और दूसरा लक्षार्थ सो अन्तः करण जो ब्रह्मांडाभि मानी है और हिरन्य गर्भ जो शरीराभि मानी है और ईश्वर जो कारण शरीराभि मानी हैं यह तीनो अभिमान के कारण ततपद के शाच्यार्थ कहलाते हैं, और वह तीनो जब, अभिमान रहित हो जाते हैं तो सच्चिदानन्द रूप, हो कर लक्ष कहलाते हैं, इसी प्रकार से त्वं पद के अर्थ मे भो स्थूल शरीराभि मानी विश्व नामक जीव और लिंग अर्थात सूक्ष्म शरीराभिमानो तैजस नामक जीव और कारण शरीराभि मानी

प्राण नामक जीव यह तीनो वाच्य र्थ कह लाते हैं और वही जीव जब अभिमान र हित सत्वता को प्राप्त होते हैं तो त्वं पद के लक्ष कहलाते हैं निदान इन्हो दोनों पदो के वाचार्थ को त्याग करके लक्षार्थ को ग्रहण करो तो सतचित आनन्द रूप आत्मा जो दोनो पद के एक तासे मिलता है, प्राप्त हुआ निदान हमने जो तत्वमसी वाक्य के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा के सत्ता भाव को प्र प्त करके दोनो को एकता कर डाली है तो हमको क्या विधी और क्या निषेध है ॥

ऊपर जो कहा है कि ब्रह्मानन्द स्वरूप को जो प्राप्त हुआ वह कर्म करने का अ- धिकारी नही रहता इस बात के दृढ़ता के निमित्त आगे और कहते हैं सुनो ॥

श्लोक ॥

यस्मिन्विश्वं सकलभुवनं-
सामरस्यैकभूतं मूर्वीध्यापोन



लमनिलखंजीवमेवङ्गमेद्य ।
यत् क्षीराब्धौसमरसतयासैं
धवैकत्वभूतंनिस्त्रैगुण्ये पथि
विचरत: कोविधि: कोनिषे-
ध: ॥ ४ ॥

अर्थ ॥

जैसे समुद्र में सेंधव अर्थात लोन डाल जायतो वह मिल कर एक रस हो जाता है उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व और चौदहो भुवन और पृथ्वी वा जल वो अग्नि वो वायु वो आकाश और जीव इत्यादि दृष्टी सपने करा सहित परमात्मा में समान एक रस के हैं ऐसे निस्त्रै गुन्य पथ के चलने वाले, जो हम हैं सो हमको क्या विधी और क्या निषेध है ॥

जीव जिस प्रकार से उपाधि रहित हो कर ब्रह्म में एक रस हो जाता है उसका दृष्टान्त देते हैं सुनो ॥

श्लोक ॥

यद्वन्नद्यौ दधिसमरसौ-
सागरत्वंह्यवाप्तौतद्वज्जीवात्म
यपरिगतौ सामरस्यैकभूताः
भेदातीतंपरिलयगतं सच्चि-
दानन्दरूपं निस्त्रैगुण्येपथि-
विचरतः कोविधीः कोनिषे-
धः ॥ ५ ॥

अर्थ ॥

जैसे सम्पूर्ण नदी जब समुद्र में पहुंच
ती हैं तो अपना २ नाम रूप और गुणा
गुण आदि को त्याग करके समुद्र में मिल
जाती हैं और केवल समुद्र ही कहा जाता
है उसी प्रकार से जब जीव उपाधि रहित
होकर आत्मा में मिल जाता है तो आत्मा
ही हो जाता है अर्थात जब जीव भेदातीत

होकर केवल सच्चिदानन्द रूप हो गया तो ऐसे निस्त्रै गुन्य पथ के चलने वाले पुरुष अर्थात हमको क्या बिधी और क्या निषेध है—आगे और सुनो कि ॥

श्लोक ॥

दृष्ट्वाबेद्यंपरमथपदं स्वात्मबोधस्वरूपंबुध्वात्मानंसकलबपुषामेकमंतर्वहिस्थं भूत्वानित्यंसदुदितनयास्वप्रकाशस्वरूपंनिस्त्रैगुण्येपथिविचरतःकोबिधीःकोनिषेधः ॥ ६ ॥

अर्थ ।

अब हम अपने को ब्रह्म और विद्या रूप स्वात्म बोध स्वरूपी जो परम पद है देखते हैं और यह निश्चय करके जान्ते हैं कि हम सम्पूर्ण शरीर के भीतर और बाहर एक

रस से हैं और नित्य वो प्रकाशवान रूप हैं तो ऐसे निर्स्रै गुन्य पथ के चलने वाले जो हम हैं सो हमको क्या विधी और क्या निषेध है ॥

टीका ॥

तत और त्वम् पद की लक्षणा को नांई हमने अपने को विद्यास्वरूप देखा, और यह भी जाना कि सम्पूर्ण शरीर के भीतर वा बाहर केवल हमी स्वप्रकाश वान वो आनन्द स्वरूप हैं तो हमको विधी और निषेध कुछ नही है ॥

प्रश्न—तुमारे कहने से जाना जाता है कि तुम आत्मा को विद्या अर्थात बुद्धि स्वरूप जान्ते हो और बुद्धि अन्तः करण की वृत्ति है तो तुमने अन्तः करण के वृत्ति को जाना कुछ आत्मा को नही जाना, और यह वृत्ति सदैव पलटती रहती है तो नित्य कैसे हो सक्ती है और कदाचित कहो कि हमने अन्तः करण को ब्रह्म में मिला दिया तो जैसे ब्रह्म को वृत्ति जो माया है और

वह नित्य कहलाती है उसी प्रकार अन्तः करण भी नित्य हुवा परन्तु हम कहते हैं कि जब माया का कारण अविद्या हैं और अविद्या का गुण अज्ञान है तो उसको आत्म बोध कैसे होगा ॥

उत्तर—आत्मा स्वप्रकाश और अपरोक्ष है कोई दूसरा प्रकाश करने वाला नहीं है आपसे आप प्रकाश वान है श्रुति भी कहती है कि (साक्षात परोक्षात) ब्रह्म निर्पेक्ष है अर्थात अपने प्रगट होने के हेतु किसी की अपेक्षा नहीं रखता ॥

प्रश्न—भला ब्रह्म अपरोक्ष सिद्ध हुवा तो साक्षात का शब्द क्यों कहा है ॥

उत्तर—साक्षात का शब्द इस निमित्त कहा है कि अपरोक्ष दो प्रकार का है एक सविधान अर्थात क्रम से जाना जाता और दूसरा निर्विधान अर्थात किसी की अपेक्षा नहीं रखता जैसे कि घट पट इत्यादि के, देखने में जीव को अन्तः करण के, इन्द्रि की अपेक्षा होती है परन्तु आत्मा के देखने में किसी की अपेक्षा नहीं होती वह

आपही अपने को देख सक्ता है इसी से वह साक्षात अपरोक्ष कहलाता है ॥

प्रश्न—हे शुकदेव जब तुम अपने को कर्ता कहते होतो अवश्य तुमको विधि और निषेध भीमान्ना योग्य है क्योंकि कर्ता कर्म के भोग में भी प्रवृत्त होता है—उत्तर ॥

श्लोक ॥

कार्याकार्यैकिमपिसततंनैवकर्तृत्वमस्तिजीवन्मुक्तस्थितिमवगतोदग्धवस्त्रावभासएवंदेहेप्रविलयगतेतिष्टमानोविमुक्तोनिस्त्रैगुण्येपथिविचरत:कोविधि:कोनिषेध: ७ ॥

अर्थ ॥

कार्य और अकार्य यह दोनों करने क

योग्य नहीं हैं, जिस प्रकार दग्ध वस्त्र का अवभास होता है उसी प्रकार शरीर के लय होने पर भी जीवन्मुक्त होकर स्थित और तिष्ट मान है जब हम ऐसे निर्गुण्य पथ के चलने वारे हैं तो हमको क्या विधी और क्या निषेध है ॥

टीका ॥

कार्य के होने से राग और राग से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से कर्ता का ज्ञान होता है और जब कर्ता का ज्ञान हुवा तो विधी शास्त्र का अधिकारी होता है और अकार्य से पाप और पाप के फलसे द्वेष और द्वेष के निवृत्ति का कर्ता निषेध शास्त्र का अधिकारी होता है सो यह दोनो तुच्छ हैं और जब कार्य वो अकार्य दोनो कुछ नहीं हैं तो किसी काल में कर्ता का ज्ञान नहीं हो सक्ता ॥

प्रश्न—यदि तुम अपने को कर्ता नहीं, मान्ते हो तो जीवनार्थ भिक्षाटन इत्यादि और तत्वोपदेश और समाधि आदि किस प्रकार से करते हो ॥

उत्तर—जब हम जीवन्मुक्ति दशा को प्राप्त हुये तो यह सब दग्ध वस्त्र की नांई दिखाई देते हैं तुम सत्य करके मानो कि जैसे वस्त्र के दग्ध होने पर भी उस के सम्पूर्ण सूत्र जिस प्रकार के थे उसी प्रकार के दिखाई देते हैं उसी के सादृश्य हमने इस शरीर को ज्ञानाग्नि के द्वारा दग्ध कर डाला है परन्तु इसके भीतर हम जीवन्मुक्त होकर प्रकाश वान हैं और पूर्व संस्कार के द्वारा हमारा यह व्यवहार दग्ध वस्त्र के सूत की नांई दिखाई देता है निदान जब हम इस प्रकार से निस्त्रैगुन्य पथ के चलने हारे हैं तो हमको क्या विधी और क्या निषेध है॥

आग और सुनो कि जब तक विचार नहीं होता तब तक द्वैत बुद्धि सद रूप से होती है परन्तु जब विचार हुआ तो बाह्य और अन्तर दोनो में निःसंदेह अद्वैत रूप कह सक्ते हैं इसका बोध आगे के श्लोक से करो॥

श्लोक ॥

कस्मात्कोहंकिमपिच भग
वान्कोयमत्र:प्रपंच: स्वस्वंबे-
द्यंगगनसदृशं पूर्णतत्वप्रका-
शंआनन्दाख्ये समरसघने-
बाह्यमंतरविहीने निस्त्रैगुण्ये-
पथिविचरत: कोविधि:कोनि
षेध: ॥ ८ ॥

अर्थ ॥

हम किससे हुये और कौन हैं और तुम
किससे हुवे और कौन हो और यह प्रपञ्च
किससे हुवा और क्या है सो विचार पूर्वक
जाना जाता है कि अहं जो परिच्छिन्न अहं
कारात्मक आत्म स्वरूप भास होता है सो
इसको आगंतु अर्थात उत्पन्य हुवा और

नित्य इन दोनो मे एक भी नही कह सक्ते क्योंकि आगंतु जो कहैं तो उसका कारण जो जड़ और चैतन्य है सो दोनो से एक भी नही हो सक्ता क्योंकि यदि जड़ मानो तो चेतन का कारण और चेतनात्म रूप के अनुभव होने का विरोध होता है और यदि चेतन कहो तो चेतन में जो परिणामो स्वभाव है सो परिणामी हो जाता है निदान चेतन भी नही हो सक्ता अब यदि विवर्त अर्थात पूर्व अवस्था का त्याग न कर के इस अवस्था का देखना जैसे रज्जु सर्प रूप होकर प्रतीत होता है ऐसा कहो तो यह मिथ्या है तो विवत भी नही कह सक्ते

अब यदि नित्य कहो तो काम क्रोधादि के परिणाम में विरोध होता है इस निमित्त नित्य भी नही कह सक्ता निदान अब यह सिद्ध हुवा कि अहं शब्द निर्वचनीय है आगे त्वं पद का विचार किया तो तुम, पद नतो अनात्म वस्तु होता है और न आत्म वस्तु क्योंकि यदि अनात्म वस्तु कहते हैं तो चेतन्यता भाव जो है उसमे विरोध

पड़ता है और जो आत्म वस्तु कहैं तो आत्मवस्तु में हम और तुम इन दोनो के होने का प्राप्तानुभव बिरोध होता है इस्से यह भी सिद्ध ज़वा कि त्वं पद भी कोई नहीं है अब इस प्रपंच का विचार किया तो न तो स्वतः सिद्ध ज्ञात होता है न पर सिद्ध क्योंकि यदि इसको स्वतः सिद्ध कहैं तो इस में जड़ता भाव जो है वह स्वतः कहने में विरोध पड़ता है और जो पर सिद्ध इसको कहैं तो अखण्ड पूर्ण चिन्मात्र जो एक रस है उस्से द्वितीय होने का भेद रूपांतर की आपत्ती होती है निदान जब यह सिद्ध ज़वा कि हम और तुम और यह प्रपञ्च कुछ भी नही है तो ज्ञात ज़आ कि अब जो कुछ है सो केवल पूर्णाकाश के सदृश्य आत्म स्वरूप तत्व प्रकाश और वाह्य वो अन्तर रहित एक रस आनन्दाख्य वह आपही आप है इस प्रकार के निश्चै शुन्य पथ के चलने, वाले जो हम हैं अथवा जो कोई हो उसको क्या विधि और क्या निषेध है ॥
